

अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

हारीत मुनिके द्वारा प्रतिपादित संन्यासीके स्वभाव, आचरण और धर्मोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंचिद्यः किंपरायणः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! प्रकृतिसे परे जो परब्रह्मका अविनाशी परमधाम है, उसे कैसे स्वभाव, किस तरहके आचरण, कैसी विद्या और किन कर्मोंमें तत्पर रहने-वाला पुरुष प्राप्त कर सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु निरतो लज्जाहारो जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो पुरुष मोक्षधर्मोंमें तत्पर, मिताहारी और जितेन्द्रिय होता है, वह उस प्रकृतिसे परे परब्रह्म परमात्माका जो अविनाशी परमधाम है, उसे प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

(अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
हारीतेन पुरा गीतं तं निबोध युधिष्ठिर ॥)

युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें हारीत मुनिने जो ज्ञानका उपदेश किया है, इस विषयमें विश्व पुरुष उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥

खगृहादभिनिस्सृत्य लाभेऽलाभे समो मुनिः ।
समुपोदेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ३ ॥

मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि लाभ और हानिमें समान भाव रखकर मुनिवृत्तिसे रहे और भोगोंके उपस्थित होनेपर भी उनकी आकाङ्क्षासे रहित हो अपने घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण कर ले ॥ ३ ॥

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित् ॥ ४ ॥

न नेत्रसे, न मनसे और न वाणीसे ही वह दूसरेके दोष देखे, सोचे या कहे। किसीके सामने या परोक्षमें पराये दोषकी चर्चा कहीं न करे ॥ ४ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ५ ॥

समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करे—किसीको भी पीड़ा न दे। सबके प्रति मित्रभाव रखकर विचरता रहे। इस नश्वर जीवनको लेकर किसीके साथ शत्रुता न करे ॥ ५ ॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नाभिमन्येत कंचन ।
कोध्यमानः प्रियं ब्रूयादाकृष्टः कुशलं वदेत् ॥ ६ ॥

यदि कोई अपने प्रति अमर्यादित बात कहे—निन्दा या

कटुवचन सुनाये तो उसके उन वचनोंको चुपचाप सह ले।

किसीके प्रति अहंकार या घमंड न प्रकट करे। कोई क्रोध करे तो भी उससे प्रिय वचन ही बोले। यदि कोई गाली दे तो भी उसके प्रति हितकर वचन ही मुँहसे निकाले ॥ ६ ॥

प्रदक्षिणं च सव्यं च ग्राममध्ये च नाचरेत् ।
भैक्षचर्यामनापन्नो न गच्छेत् पूर्वकेतितः ॥ ७ ॥

गाँव या जनसमुदायमें दायें-बायें न करे—किसीकी पक्ष-विपक्ष न करे तथा भिक्षावृत्तिको छोड़कर किसीके यहाँ पहलेसे निमन्त्रित होकर भोजनके लिये न जाय ॥ ७ ॥

अवकीर्णः सुगुप्तश्च न वाचा ह्यप्रियं वदेत् ।
मृदुः स्यादप्रतिकूरो विलब्धः स्यादकथनः ॥ ८ ॥

कोई अपने ऊपर धूल या कीचड़ फेंके तो मुमुक्षु पुरुष उससे आत्मरक्षामात्र करे। बदलेमें स्वयं भी वैसा ही न करे और न मुँहसे कोई अप्रिय वचन ही निकाले। सर्वदा मृदुताका बर्ताव करे। किसीके प्रति कठोरता न करे। निश्चिन्त रहे और बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बनाये ॥ ८ ॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
अतीतपात्रसंचारे भिक्षां लिप्सेत वै मुनिः ॥ ९ ॥

जब रसोईघरसे धूआँ निकलना बंद हो जाय, अनाज-मसाला कूटनेके लिये उठाया हुआ मूसल अलग रख दिया जाय, चूल्हेकी आग ठंडी पड़ जाय, घरके लोग भोजन कर चुके हों और बर्तनोंका संचार—रसोई परोसी हुई थाली-का इधर-उधर ले जाया जाना बंद हो जाय, उस समय संन्यासी मुनिको भिक्षा प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ॥

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रालाभेष्वनादृतः ।
अलाभे न विहन्येत लाभश्चैनं न हर्षयेत् ॥ १० ॥

उसे केवल अपनी प्राणयात्राके निर्वाहमात्रका यत्न करना चाहिये। भर पेट भोजन मिल जाय, इसकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। यदि भिक्षा न मिले तो उससे मनमें पीड़ा-का अनुभव न करे और मिल जाय तो उसके कारण वह हर्षित न हो ॥ १० ॥

लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः ।
अभिपूजितलाभं हि जुगुप्सेतैव तादृशः ॥ ११ ॥

साधारण (लौकिक) लाभकी इच्छा न करे। जहाँ विशेष आदर एवं पूजा होती हो, वहाँ भोजन न करे। मुमुक्षु पुरुष-को आदर-सत्कारके लाभकी तो निन्दा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

न चान्नदोषान् निन्देत न गुणानभिपूजयेत् ।
शय्यासनै विविक्ते च नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥ १२ ॥

भिक्षामें मिले. हुए अन्नके दोष बताकर उनकी निन्दा

न करे और न उसके गुण बताकर उन गुणोंकी प्रशंसा ही करे । सोने और धैठनेके लिये सदा एकान्तका ही आदर करे ॥
शून्यागारं वृक्षमूलमरण्यमथवा गुहाम् ।
अज्ञातचर्यां गत्वान्यां ततोऽन्यत्रैव संविशेत् ॥ १३ ॥

सूने घर, वृक्षकी जड़, जंगल अथवा पर्वतकी गुफामें अथवा अन्य किसी गुप्त स्थानमें अज्ञातभावसे रहकर आत्म-चिन्तनमें ही लगा रहे ॥ १३ ॥

अनुरोधविरोधाभ्यां समः स्यादचलो ध्रुवः ।
सुकृतं दुष्कृतं चोभे नानुरुध्येत कर्मणा ॥ १४ ॥

लोगोंके अनुरोध या विरोध करनेपर भी सदा समभावसे रहे, निश्चल एवं स्थिरचित्त हो जाय तथा अपने कर्मोंद्वारा पुण्य एवं पापका अनुसरण न करे ॥ १४ ॥

नित्यतृप्तः सुसंतुष्टः प्रसन्नचदनेन्द्रियः ।
विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ १५ ॥

सर्वदा तृप्त और संतुष्ट रहे । मुख और इन्द्रियोंको प्रसन्न रखे । भयको पास न आने दे । प्रणव आदिका जप करता रहे तथा वैराग्यका आश्रय ले मौन रहे ॥ १५ ॥

अभ्यस्तं भौतिकं पश्यन् भूतानामागतिं गतिम् ।
निःस्पृहः समदर्शी च पक्कापक्केन वर्तयन् ।
आत्मना यः प्रशान्तात्मा लब्धाहारो जितेन्द्रियः ॥ १६ ॥

भौतिक देह, इन्द्रिय आदि सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली हैं और प्राणियोंके आवागमन-जन्म और मरण-बारंबार होते रहते हैं । यह सब देख और सोचकर जो सर्वत्र निःस्पृह तथा समदर्शी हो गया है, पके (रोटी, भात आदि) और कच्चे (फल, मूल आदि) से जीवन-निर्वाह करता है, आत्मलाभके लिये जो शान्तचित्त हो गया है तथा जो मिताहारी और जितेन्द्रिय है, वही वास्तवमें संन्यासी कहलाने योग्य है ॥ १६ ॥

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
हिंसावेगमुद्रोपस्थवेगम् ।
एतान् वेगान् विषहेद् वै तपस्वी
निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हारीतगीतायां अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७८ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हारीतगीताविषयक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७८ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय तथा उस विषयमें वृत्र-शुक्र-संवादका आरम्भ

युधिष्ठिर उवाच

धन्यधन्या इति जनाः सर्वेऽस्मान् प्रवदन्त्युत ।
न उततरः कश्चित् पुमानस्माभिरस्ति ह ॥ १ ॥
युधिष्ठिरने कहा—पितामह । सभी लोग हमलोगोंको

संन्यासी तपस्वी होकर वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थ-इनके वेगोंको सहता हुआ इन्हें वशमें रखे । दूसरोंद्वारा की हुई निन्दा उसके हृदयमें कोई विकार न उत्पन्न करे ॥ १७ ॥

मध्यस्थ एव तिष्ठेत प्रशंसानिन्दयोः समः ।
पतत् पवित्रं परमं परिवाजक आश्रमे ॥ १८ ॥

प्रशंसा और निन्दा-दोनोंमें समान भाव रखकर उदासीन ही रहना चाहिये । संन्यासाश्रममें इस प्रकारका आचरण परम पवित्र माना गया है ॥ १८ ॥

महात्मा सर्वतो दान्तः सर्वत्रैवानपाश्रितः ।
अपूर्वचारकः सौम्यो अनिकेतः समाहितः ॥ १९ ॥

संन्यासीको महामनस्वी, सब प्रकारसे जितेन्द्रिय, सब ओरसे असङ्ग, सौम्य, मठ और कुटियासे रहित तथा एकाग्रचित्त होना चाहिये । उसे अपने पूर्व आश्रमके परिचित स्थानोंमें नहीं विचरना चाहिये ॥ १९ ॥

वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित् ।
अज्ञातलिप्सं लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत् ॥ २० ॥

वानप्रस्थों और गृहस्थोंके साथ उसे कभी संसर्ग नहीं रखना चाहिये । अपनी रुचि प्रकट किये बिना ही जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीको लेनेकी इच्छा रखनी चाहिये तथा अभीष्ट वस्तुके मिलनेपर उसके मनमें हर्षका आवेश नहीं होना चाहिये ॥ २० ॥

विजानतां मोक्ष एष श्रमः स्याद्विजानताम् ।
मोक्षयानमिदं कृत्स्नं विदुषां हारितोऽब्रवीत् ॥ २१ ॥

यह संन्यासाश्रम ज्ञानियोंके लिये तो मोक्षरूप है, परंतु अज्ञानियोंके लिये श्रमरूप ही है । हारीत मुनिने विद्वानोंके लिये इस सम्पूर्ण धर्मको मोक्षका विमान बताया है ॥ २१ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् गृहात् ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥ २२ ॥

जो पुरुष सबको अभय-दान देकर घरसे निकल जाता है, उसे तेजोमय लोकोंकी प्राप्ति होती है तथा वह अनन्त परमात्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥ २२ ॥

धन्य-धन्य कहते हैं, परंतु हमलोगोंसे बढ़कर अत्यन्त दुखी दूसरा कोई मनुष्य नहीं है ॥ १ ॥
लोकसम्भावितैर्दुःखं यत् प्राप्तं कुरुसत्तम ।
प्राप्य जार्ति मनुष्येषु देवैरपि पितामह ॥ २ ॥